न्याय की पताका

अंजलि गुप्ता



न्याय की पताका

अंजलि गुप्ता

संजीव प्रकाशन, नई दिल्ली

संस्करण, १९९३ / प्रकाशक : संजीव प्रकाशन, ३६१३, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
मुद्रक : कोणार्क प्रिंटर्स, द्वारा शान्ति मुद्रणालय, दिल्ली-३२

NYAYA KI PATAKA : Anjali Gupta Rs. 12.00

कहानी-क्रम

दुःखों का सन्दूक

अति प्राचीन काल की कथा है।

ग्रीक देश के देवताओं के राजा जिउस ने सर्वप्रथम एक स्त्री को पृथ्वी के ऊपर भेजा। उस स्त्री का नाम पानडोरा था। पानडोरा के पूर्व धरती पर कोई और स्त्री नहीं थी। उसने पृथ्वी पर ले जाने के लिए उसे एक सुन्दर सन्दूक भी दिया था। सन्दूक में ताला लगा हुआ था, पर ताले की कुंजी भी जिउस ने पानडोरा को दे दी थी।

पानडोरा सन्दूक को लेकर धरती पर पहुँची। वह धरती के एक युवक के साथ विवाह करके सानन्द जीवन व्यतीत करने लगी। उसने जिउस का सन्दूक और उसकी कुंजी अपने स्वामी को समर्पित कर दी। उसके स्वामी ने उन दोनों को घर में, एक कोने में रख दिया।

कई मास बीत गए। पानडोरा और उसके स्वामी का जीवन बड़े ही सुख और आनन्द के साथ बीत रहा था। पानडोरा का स्वामी दिन-भर अपने काम-काज में बड़े उल्लास के साथ व्यस्त रहता था। वह काम-काज करने के समय मधुर और भावमय गीत गुनगुनाया करता था। सन्ध्या समय जब वह थका हुआ घर लौटता था, तो पानडोरा बड़े प्रेम से उसका स्वागत करती थी। खाने-पीने के पश्चात् स्वर्ग के देवताओं की कहानियाँ सुनाकर वह उसे उत्साहित किया करती थी।

धीरे-धीरे इसी प्रकार दो-तीन वर्ष बीत गए। हठात् पानडोरा के शरीर और मन में परिवर्तन होने लगा। वह अपने शरीर और मन को थका हुआ

अनुभव करने लगी। उसके मन में घर-द्वार और सांसारिक सुखों से विरक्ति उत्पन्न हो उठी। वह उदास-खिन्न हुई, सबसे पृथक् रहने का प्रयत्न करने लगी।

एक दिन हठात्, पानडोरा को स्मरण आया कि जब वह स्वर्ग से चलने लगी थी, तो जिउस ने उसे एक सुन्दर सन्दूक और उसकी कुंजी दी थी। उसने उस सन्दूक और कुंजी को अपने स्वामी को दे दिया था। पानडोरा के मन में यह जानने के लिए उत्कंठा पैदा हो उठी कि जिउस के उस सन्दूक के भीतर क्या है। उसने उस सन्दूक को खोलने का निश्चय किया।

पानडोरा जाकर उस सन्दूक के समीप खड़ी हो गई। वह बड़े ध्यान से सन्दूक की ओर देखने लगी। सन्दूक में ताला लगा था। उसके ऊपर ताले की कुंजी रखी हुई थी।

पानडोरा को ऐसा आभासित हुआ कि कोई बहुत ही मंद-मंद स्वर में सन्दूक के भीतर बोल रहा है। कोई बड़े ही कातर स्वर में उससे प्रार्थना कर रहा है—'मुझे बाहर आने दो। एक बार मुझे बाहर आने दो।'

पानडोरा के मन में दया उत्पन्न हो उठी। उसने कुंजी के द्वारा ताला खोलकर सन्दूक का ढक्कन उठा दिया। आश्चर्य! महान् आश्चर्य! सन्दूक के भीतर से एक साथ ही बहुत-से कीड़े-मकोड़े निकल पड़े। वे निकल-निकलकर पानडोरा को डंक मारने लगे। पानडोरा आकुल हो उठी। उसने बल लगाकर सन्दूक के ढक्कन को पुनः बन्द कर दिया। पर वे कीड़े-मकोड़े तो उड़कर चारों ओर फैल ही गये।

पानडोरा भयभीत हो उठी। वह समझ नहीं पा रही थी कि यह सब क्या रहस्य है। वह मन-ही-मन जिउस पर खीझ-सी रही थी। जिउस ने उसे ऐसा सन्दूक क्यों दिया?

पानडोरा नेत्रों में आश्चर्य और खीझ भरकर सन्दूक की ओर देखने लगी। उसी समय पानडोरा को सन्दूक के भीतर पुनः किसी का स्वर सुनाई पड़ा। उसे ऐसा लगा, जैसे वह स्वर किसी लड़की का हो। वह बड़ी ही मृदुता के साथ

कह रही थी—"मुझे बाहर निकलने दो। कृपा कर मुझे बाहर निकलने दो।"

पानडोरा एक बार सन्दूक खोलकर उसका फल पा चुकी थी। अब दूसरी बार वह किसी भी प्रकार सन्दूक को खोलने के लिए तैयार नहीं हो रही थी। यदि पहली बार की भाँति ही पुनः कीड़े-मकोड़े बाहर निकलकर उसे डंक मारने लगे, तो ? नहीं, वह सन्दूक न खोलेगी। वह बोल उठी—"न, बाबा, न ! एक बार सन्दूक खोलने का फल मैं भोग चुकी हूँ। अब दूसरी बार फिर सन्दूक खोलूँ ! नहीं-नहीं, अब मैं ऐसी गलती कदापि न करूँगी।"

सन्दूक के भीतर का स्वर और भी अधिक विनीत हो उठा। कहने वाली ने बड़ी ही अनुनय-विनय के साथ कहा—"नहीं-नहीं, पानडोरा, इतनी कठोर न बनो ! मुझे बाहर निकलने दो, बाहर निकलने दो। मैं सच कहती हूँ, मैं तुम्हारा उपकार करूँगी, तुम्हारे काम आऊँगी।"

पानडोरा के मन में पुनः दया उत्पन्न हो उठी। वह अपने को रोक न सकी और उसने दूसरी बार पुनः सन्दूक का ढक्कन उठा दिया।

आश्चर्य, महान् आश्चर्य ! सन्दूक का ढक्कन उठाते ही उसके भीतर से एक छोटी-सी परी बाहर निकल आयी। परी बड़ी सुन्दर थी। ऐसा लगता था, मानो वह सुन्दरता के साँचे में ढली हो।

पानडोरा उस परी को देखकर आश्चर्य-चकित और हर्षित हो उठी। इतनी हर्षित हो उठी कि वह नाचने लगी। परी पानडोरा की ओर देखती हुई बोल उठी—"पानडोरा, तुम्हारे मन के हर्ष को देखकर मुझे भी बड़ा आनन्द आ रहा है, पर दुःख की बात तो यह है कि तुमसे एक बहुत बड़ी भूल हो गई है।"

पानडोरा विस्मय-भरे स्वर में बोली—"मुझसे बहुत बड़ी भूल हुई है ?"

परी ने कहा—"हाँ, पानडोरा, तुमसे बहुत बड़ी भूल हुई है। तुमने जब पहली बार सन्दूक का ढक्कन ऊपर उठाया था, तो बहुत से कीड़े-मकोड़े सन्दूक से बाहर निकल पड़े थे। जानती हो, पानडोरा, वे कीड़े-मकोड़े क्या थे ?"

पानडोरा उत्कण्ठित होकर परी की ओर देखने लगी।

परी पुनः बोल उठी—"वे कीड़े-मकोड़े नहीं थे, पानडोरा ! वे थे भाँति-भाँति के दुःख, पीड़ाएँ, हिंसा, रोग, राग, घृणा, लोभ, निष्ठुरता और युद्ध आदि विकार। तुमने अपनी भूल से संसार को दुःखों से भर दिया, पानडोरा ! वे तुम्हारे सन्दूक खोलने से बाहर निकलकर सारे संसार में फैल गए हैं।"

पानडोरा अत्यधिक दुःखी हो उठी। वह दुःख-भरे स्वर में बोल उठी—"सच, परीरानी !"

परी ने उत्तर दिया—"मैं सच कह रही हूँ, पानडोरा ! संदूक के भीतर से नाना प्रकार के दुःखों, रोगों और विकारों के कीड़े-मकोड़े बाहर निकलकर, संसार में चारों ओर फैल गए हैं। संसार के प्राणी इनसे बड़ा दुःख पायेंगे। इनके कारण उनके मन का सारा हर्ष, सारा आनन्द उड़ जाएगा।"

पानडोरा का मन विषाद में डूब गया। उसकी आँखें भर आयीं। वह अश्रु-बूँदें गिराती हुई बोल उठी—"तब तो बड़ा बुरा हुआ। आह ! मैं संसार में दुःखों का कारण बनी ! पर परीरानी, क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे दुःख पैदा करने वाले कीड़े-मकोड़े फिर सन्दूक के भीतर बन्द किए जा सकें ?"

पानडोरा नेत्रों में विवशता भरकर परी की ओर देखने लगी। परी अपने विचारों में डूबी हुई थी। पानडोरा पुनः बोल उठी—"हाँ, परीरानी, यदि कोई उपाय हो, तो कृपा करके मुझे बता दीजिए।"

परीरानी अत्यन्त दुःख के साथ बोल उठी—"तुमसे अब कुछ न हो सकेगा, पानडोरा ! दुःख पैदा करने वाले वे कीड़े-मकोड़े पृथ्वी पर फैल चुके हैं। मेरा नाम आशा है। संसार में जो लोग अनेक प्रकार के दुःखों और विकारों से जर्जरित हो जायेंगे, उन्हें प्रेरणा और उत्साह देने के लिए ही जिउस ने मुझे पृथ्वी पर भेजा है। मैं दुःखियों, निस्सहायों और विवशों के पास सदा विद्यमान रहूँगी। उन्हें धैर्य, प्रेरणा और आशा देती रहूँगी।"

मनुष्य उसी समय से तरह-तरह के दुःखों और रोगों से त्रस्त है। आशा उसी समय से मनुष्य को प्रोत्साहित कर रही है।

न्याय की पताका

न्याय किसी की ओर नहीं देखता। वह देखता है अपनी ओर, केवल अपनी ओर। राजा हो, सम्राट् हो, अमीर हो, गरीब हो, कुरूप हो, स्वरूपवान हो—न्याय सबकी ओर से मुंह मोड़कर चलता है। न्याय के इसी अत्यन्त कठोर स्वभाव को दृष्टि में रखकर बड़े-बड़े विद्वानों ने कहा है कि न्याय एक उस चक्की की तरह होता है, जो बिना किसी मोह के, बिना किसी प्रेम के सबको पीस देती है।

यही कारण है कि जो न्याय के सिंहासन पर बैठते हैं, जो न्याय की पताका को हाथ में लेकर चलते हैं, उनके सामने काँटों की झाँड़ियाँ होती हैं, उनकी राहें काँटों की झाड़ियों से भारी होती हैं। उन्हें काँटों से भरी हुई झाड़ियों में ही चलकर सोचना पड़ता है, बिना किसी प्रेम और मोह के अपने विचारों को एक रूप देना होता है। यदि वे मोह और ममता का आँचल छोड़कर अपने विचारों को एक रूप में बाँधते हैं, न्याय की पताका को गगन में उड़ाते हैं, तो यशी होते हैं, कीर्तिवान् बनते हैं; नहीं तो मोह की कालिख से उस सिंहासन को ही काला और कलंकित बना देते हैं, जिस पर वे स्वयं बैठे हुए होते हैं।

यही कारण है कि बड़े-ब्रड़े पंडितों ने, बड़े-बड़े आचार्यों ने बार-बार कहा है कि न्याय के सिंहासन पर उसी को बैठने का अधिकार है, जो काँटों की झाड़ियों में भी चलने का साहस रखता हो, जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु—सबकी ओर से न्याय के समान ही मुख मोड़कर केवल न्याय की ओर देख सकता हो। सुनो एक ऐसे ही महान् दृढ़व्रती और असीम साहसी न्यायपति की कहानी! तुम

दैत्य-पति प्रह्लाद का पुत्र था, दूसरे बड़ा निरंकुश भी था। केशिनी भयभीत हो उठी। पर फिर भी उसने अत्यंत साहस और धैर्य से काम लिया। विरोचन की सत्ता और निरंकुशता को जानते हुए भी वह अपने विचारों पर दृढ़ रही।

विरोचन के प्रस्ताव को सुनकर वह दृढ़ता के साथ बोली––"दैत्यकुमार, मुझे धन नहीं चाहिए, संसार के सुख नहीं चाहिए, मुझे चाहिए मनुष्य के हृदय के गुण, मनुष्य के हृदय की सुन्दरता। मैंने अंगिरा ऋषि के पुत्र सुधन्वा के गुणों पर ही रीझकर उनके साथ विवाह करने का निश्चय किया है। मैं मृत्यु का वरण कर सकती हूँ, पर उनके साथ विवाह करने के अपने विचार को नहीं छोड़ सकती।"

पर विरोचन भी सहज में ही मानने वाला नहीं था। वह उत्तर में बोल उठा—"राजकन्ये, क्या मुझ में सुधन्वा से कम गुण हैं ? मैं भी तो सुधन्वा की भाँति ही गुणवान और नीतिवान हूँ। फिर तुम सुधन्वा के लिए मुझे क्यों छोड़ रही हो ?"

केशिनी विचारों के भँवर में फँस गई। वह विरोचन की बात का उत्तर दे, तो क्या दे ? पर उसे कुछ-न-कुछ उत्तर तो देना ही पड़ेगा। वह विचारों में डूबकर सोचने लगी।

कुछ क्षणों के बाद केशिनी बोल उठी––"दैत्यकुमार, कल प्रातःकाल आप मेरे घर पर आ जाइए। मैं सुधन्वा को भी बुला लूंगी। आप दोनों ही परस्पर बात करके अपने-अपने गुणों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में निर्णय कर लें।"

विरोचन को इस पर आपत्ति ही क्या होती ? उसने केशिनी की बात स्वीकार कर ली।

प्रातःकाल का समय था। विरोचन केशिनी के घर आ पहुँचा। वह एक सिंहासन पर जा बैठा। पर सुधन्वा अभी तक वहाँ नहीं पहुँच सका था। विरोचन सिंहासन पर बैठकर विवाह के सम्बन्ध में मन-ही-मन हवाई किले बनाने लगा।

कुछ देर पश्चात् सुधन्वा भी केशिनी के घर जा पहुँचा। सुधन्वा को देखते

ही विरोचन बोल उठा--"आओ सुधन्वा, मेरे साथ सिंहासन पर बैठो।"

पर सुधन्वा ने विरोचन के साथ सिंहासन पर बैठना अस्वीकार कर दिया। उसने कहा--"विरोचन, मैं तुम्हारे साथ सिंहासन पर नहीं बैठ सकता, क्योंकि वही दो मनुष्य एक-साथ सिंहासन पर बैठ सकते हैं, जिनमें परस्पर समान गुण हों।"

विरोचन आश्चर्य-चकित होकर सुधन्वा की ओर देखने लगा। सुधन्वा ने अपनी बात और भी स्पष्ट करते हुए कहा--"विरोचन, पिता-पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध और दो शूद्र एक आसन पर बैठ सकते हैं। इस दृष्टि से हम-तुम एक आसन पर कैसे बैठ सकते हैं ? क्योंकि हम-तुम दोनों न पिता-पुत्र हैं, न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय हैं और न शूद्र हैं। जब मैं तुम्हारे पिता के राजदरबार में जाता हूँ, तो वे भी मुझे ऊँचे आसन पर बिठाकर स्वयं नीचे बैठते हैं। इतना ही नहीं, वे मेरा पाद-अर्घ्य भी लेते हैं। फिर मैं तुम्हारे साथ सिंहासन पर कैसे बैठ सकता हूँ ?"

विरोचन के हृदय में क्रोध की आग जल उठी। वह सुधन्वा से उलझ गया, उससे तर्क-वितर्क करने लगा।

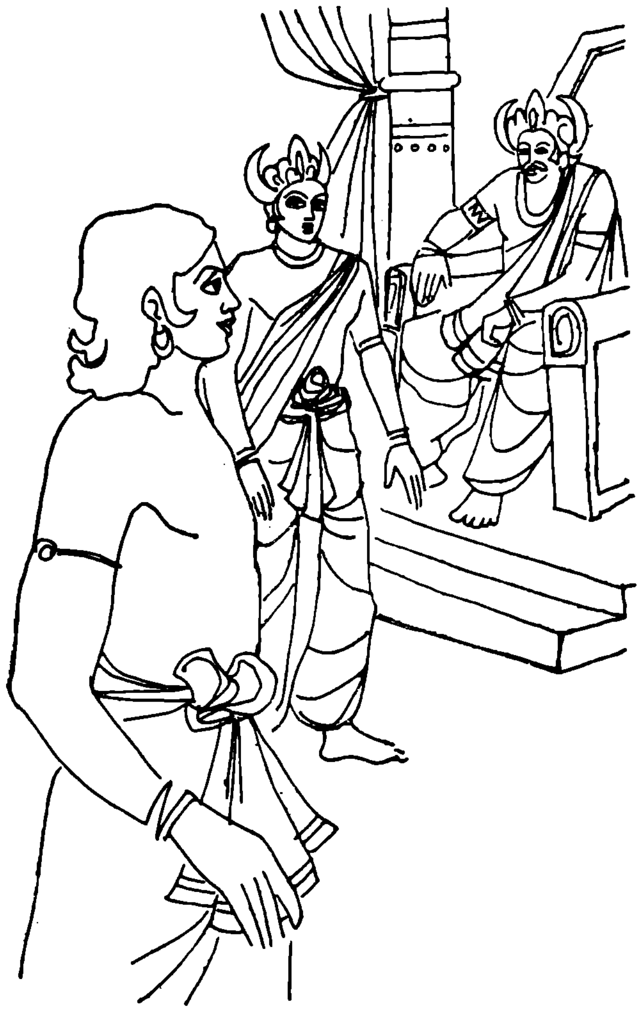
जब तर्क-वितर्क से भी दोनों किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके, तो दोनों ने निर्णय के लिए किसी न्यायपति के समक्ष जाने का निश्चय किया। सुधन्वा ने न्यायपति के लिए कई नाम विरोचन के सामने रखे, पर विरोचन ने उनमें से एक भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे सब के सब या तो ब्राह्मण थे, या ऋषि-महर्षि थे। उसके मन में डर था कि कहीं सजातीय होने के कारण वे सुधन्वा का पक्षपात न करें।

विरोचन ने सुधन्वा के नामों को तो स्वीकार नहीं किया, पर उसने एक नया नाम उसके सामने रखा। वह नाम था स्वयं उसके पिता दैत्यराज प्रह्लाद का। सुधन्वा प्रह्लाद की न्याय-प्रियता और धर्म-निष्ठता से भली भाँति परिचित था। वह प्रह्लाद के नाम पर शीघ्र ही सहमत हो गया।

सुधन्वा और विरोचन दोनों ही न्याय के लिए प्रह्लाद की सेवा में उपस्थित

हुए । दोनों ने प्रह्लाद की सेवा में उपस्थित होकर उनसे अपनी-अपनी बातें कहीं और न्याय के लिए प्रार्थना की ।

प्रह्लाद का मन विचारों के झकोरों में फँस गया । वे सोचने लगे, वे क्या निर्णय करें ? क्या वे यह निर्णय करें कि सुधन्वा में विरोचन की अपेक्षा अधिक



श्रेष्ठ गुण हैं ? नहीं, वे ऐसा निर्णय नहीं कर सकेंगे। विरोचन उनका पुत्र है। उनसे विरोचन के विरुद्ध निर्णय देकर उसे दुःखी नहीं देखा जा सकेगा।

प्रह्लाद का मन पुत्र के मोह में फँसकर पीड़ा से छटपटाने लगा।

पर प्रह्लाद के भीतर बैठे हुए ज्ञान-देवता ने उनके मन के मोह को दूर कर दिया। वे ज्ञान-देवता की कृपा से कुछ सँभले, कुछ ऊपर उठे। वे ऊपर उठकर सोचने लगे, वे अवश्य विरोचन के पिता हैं, पर वे न्यायपति हैं। उन्हें 'पिता' के पद से ऊपर उठकर निर्णय देना चाहिए, न्याय करना चाहिए। भले ही उनके निर्णय से स्वयं उन्हीं का हृदय टूक-टूक हो जाय, खण्ड-खण्ड हो जाय, पर उनका न्याय 'न्याय' होना चाहिए, उनका निर्णय 'निर्णय' होना चाहिए। ऐसा न्याय और ऐसा निर्णय होना चाहिए, जिसे सुनकर स्वयं 'न्याय' की छाती भी गर्व से फूल जाए, स्वयं 'निर्णय' का मस्तक भी ऊँचा उठ जाए।

प्रह्लाद पुत्र-मोह को छोड़कर सुधन्वा से न्याय और अन्याय के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे।

सुधन्वा ने न्याय और अन्याय के प्रतिफल पर प्रकाश डालते हुए कहा—"महाराज, सौत वाली स्त्री, जुए में हारे हुए जुआरी और भार ढोने से व्यथित शरीर वाले मनुष्य की रात में जो स्थिति होती है वही स्थिति उस मनुष्य की होती है, जो उलटा न्याय देता है।

"जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा के नगर में कैद होकर बाहरी दरवाजे पर भूख का कष्ट सहता हुआ बहुत-से शत्रुओं को देखता है।

"साधारण पशु के लिए झूठ बोलने से पाँच पीढ़ियाँ, गौ के लिए झूठ बोलने से दस पीढ़ियाँ, घोड़े के लिए झूठ बोलने से सौ पीढ़ियाँ और मनुष्य के लिए झूठ बोलने से एक हजार पीढ़ियाँ नरक में गिरती हैं।

"सोने के लिए झूठ बोलने वाला प्राणी भविष्य की सभी पीढ़ियों को नरक में धकेलता है। पृथ्वी (स्त्री) के लिए झूठ बोलने वाला तो अपना सर्वस्व ही नाश कर लेता है। अतः आप स्त्री के लिए झूठा निर्णय कभी मत दीजिएगा।"

प्रह्लाद के हृदय में न्याय का शंख बज उठा। उनकी रग-रग में ज्ञान की लौ जल उठी। वे पूर्ण रूप से पुत्र के मोह के दलदल से बाहर निकलकर बड़े साहस से बोल उठे—"विरोचन, अंगिरा मुझ से श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा की माता तेरी माता से श्रेष्ठ हैं और सुन्धवा तुझसे श्रेष्ठ हैं।"

विरोचन का मस्तक सुधन्वा के सामने नत हो उठा। सुधन्वा की रग-रग में प्रसन्नता और आनन्द की ज्योति खिल उठी। इसलिए नहीं कि न्याय उसके पक्ष में हुआ, बल्कि इसलिए कि प्रह्लाद न्याय करने में, सच्ची बात करने में, मोह की उस खाई को लाँघने में समर्थ हो सके, जिसमें बड़े-बड़े देवता और बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी गिर जाया करते हैं।

सुधन्वा आह्लादित होकर बोल उठा—"राजन्, आपने पुत्र-मोह की कँटीली झाड़ी को लाँघने में जो साहस दिखाया है, उससे आपकी यश-गाथा युगों के स्वर में सदा गूँजती रहेगी।"

सचमुच प्रह्लाद की यश-गाथा युगों के स्वर में आज भी गूँज रही है। जो लोग मोह-ममता को छोड़कर त्याग की कँटीली झाड़ियों में चलते हैं, वे प्रह्लाद की भाँति ही यशी होते हैं, कीर्तिवान् बनते हैं।

खादी की रजाई

पूर्व बंगाल स्थित बारीसाल का ब्रजमोहन कॉलेज ! एक दिन सवेरे का समय था, कॉलेज के प्रतिष्ठाता महोदय पैदल ही कहीं जा रहे थे। उनका सादा वेश था। बड़े आदमी थे, पर शरीर पर ठाट-बाट का काम नहीं। चेहरे से भी साधुता टपक रही थी। देखकर कोई नहीं कह सकता था कि इन्होंने ही ब्रज मोहन कॉलेज की स्थापना की होगी।

दूसरी ओर से एक विद्यार्थी चला आ रहा था। बड़े ठाट-बाट से था। शरीर पर अच्छे ढंग के विदेशी कपड़े थे।

प्रतिष्ठाता महोदय ने बड़े ध्यान से छात्र को देखा। देखते-ही-देखते प्रश्न किया—"किस कॉलेज में पढ़ते हो ?"

छात्र को क्या पता था कि प्रश्न करने वाले उसके कॉलेज के प्रतिष्ठाता हैं ! उसने सोचा, होगा कोई ग्रामीण ! अतः बड़ी ऐंठ से उत्तर दिया—"क्या करोगे पूछकर ? ब्रजमोहन कॉलेज में !"

प्रतिष्ठाता महोदय ने फिर प्रश्न किया—"इतने महीन, विदेशी कपड़े क्यों पहनते हो ?"

छात्र ने उसी अकड़ के साथ उत्तर दिया—"तुम्हें इससे क्या मतलब ! मेरी इच्छा, चाहे जो पहनूँ।"

प्रतिष्ठाता महोदय गम्भीर हो उठे। उन्होंने गम्भीरता-भरे स्वर में कहा—"ठहरो, ऐसे विद्यार्थियों के लिए हमारे कॉलेज में स्थान नहीं। तुम अपने लिए कोई दूसरा कॉलेज ढूंढो।"

और उन्होंने उसी दिन विद्यार्थी को कॉलेज से पृथक् कर दिया।

जानते हो, वे प्रतिष्ठाता महोदय कौन थे ? वे थे सुप्रसिद्ध देशभक्त अश्विनी-कुमार दत्त। दत्त महोदय ने बड़े उत्साह और लगन से ब्रजमोहन कॉलेज की स्थापना की थी। उनका एक सुन्दर स्वप्न था। वे अपने देश के विद्यार्थियों में साहस, शौर्य और देश-प्रेम पैदा करना चाहते थे। वे बहुत ही सादे चाल-ढाल में रहते थे। कॉलेज के अध्यापकों और छात्रों के चरित्र तथा रहन-सहन पर उनकी कड़ी दृष्टि रहती थी।

दत्त महोदय के पिता का नाम ब्रजमोहन दत्त था। ब्रजमोहन दत्त एक महान् पुरुष थे। दत्त महोदय ने अपने पिता की स्मृति में ही ब्रजमोहन कॉलेज की स्थापना की थी। वे चाहते थे कि उनके पिता में जो ऊँचे गुण थे, वही गुण उन विद्यार्थियों में पैदा हों, जो ब्रजमोहन कॉलेज में पढ़ते हैं।

ब्रजमोहन दत्त बड़े उन्नत विचार के थे। वे जब जीवित थे, तो दत्त महोदय को बराबर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देते रहते थे। वे कहा करते थे--"देखो, तुम वकील बनकर, स्वतंत्र जीवन व्यतीत करो। मैं नहीं चाहता कि मेरे वंश में कोई विदेशियों की गुलामी करे।"

और सचमुच दत्त महोदय एक वकील के रूप में ही जीवन-क्षेत्र में उतरे। उन्होंने कभी किसी की गुलामी न की।

पर वकालत के क्षेत्र में दत्त महोदय अधिक दिनों तक टिक न सके। दत्त महोदय बड़े सत्यवादी और स्पष्ट वक्ता थे। उन्होंने देखा कि वकालत के पेशे में मनुष्य को धन पैदा करने के लिए बहुत-से झूठ बोलने पड़ते हैं। दत्त महोदय को वकालत के पेशे से घृणा हो गई।

दत्त महोदय वकालत के पेशे को छोड़कर बारीसाल की उन्नति में जुट गए। वे सादी चाल-ढाल के, बड़ी लगन के व्यक्ति थे। गरीबों, दलितों और पीड़ितों के लिए उनके मन में बड़ा प्रेम था। देश-सेवा में उनकी बहुत गहरी निष्ठा थी। थोड़े ही दिनों में वे बारीसाल के जनप्रिय नेता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। लोग उन्हें

'बारीसाल-बंधु' के नाम से जानने-मानने लगे।

बारीसाल के कोने-कोने में दत्त महोदय का नाम गूँज गया। दत्त महोदय छोटे-बड़े, सबसे बड़े प्रेम से मिलते थे। वे सबको अपना ही समझते थे। भेद-भाव उनके मन को छू तक न गया था।

एक दिन एक मुसलमान किसान ने अपने मन में सोचा——दत्त महोदय सबको अपना कहते हैं, चलकर उनकी परीक्षा करके देखें कि उनके कथन में कहाँ तक सचाई है ? क्या वे किसी गरीब को भी अपना समझते हैं ?

एक दिन सवेरे का समय था। लगभग दस बज रहे थे। मुसलमान दत्त के घर आ पहुँचा। वह दत्त महोदय की बैठक में बैठकर उनकी प्रतीक्षा करने लगा।

दत्त महोदय घर के भीतर ही थे; किसी काम-काज में संलग्न थे। कुछ देर के पश्चात् वे बाहर निकले। उन्होंने बड़े ही प्रेम से किसान के कंधे पर हाथ रखकर कहा——"क्या बात है, भाई ! जान पड़ता है, तुम बड़ी देर से बैठे हो ! क्षमा करना, तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ।"

किसान ने कहा——"नहीं-नहीं, बाबू, मुझे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। मैं तो बड़े सुख से बैठा हूँ।"

दत्त महोदय ने फिर पूछा——"अच्छा बताओ, किसलिए आये हो ?"

किसान उत्तर दे, तो क्या दे ? क्योंकि वह किसी काम से तो आया नहीं था। वह मन-ही-मन सोचने लगा। कुछ क्षणों के पश्चात् बोल उठा——"बाबू, जिस काम के लिए आया था, वह पूरा हो गया।"

दत्त महोदय आश्चर्यचकित होकर किसान की ओर देखने लगे। उन्होंने किसान की ओर देखते-ही-देखते फिर कहा——"तुम्हारा काम पूरा हो गया ? आश्चर्य है ! पर मैं भी तो सुनूँ कि तुम किस काम से आए थे और वह किस प्रकार पूरा हो गया ?"

मुसलमान किसान ने उत्तर दिया——"बाबू, मैं यह जानने आया था कि क्या आप गरीब को भी 'अपना' कहते हैं। मैंने जान लिया, बाबू ! आप धन्य हैं।"

दत्त महोदय और भी अधिक आश्चर्यचकित हो उठे। उन्होंने आश्चर्य के स्वर में फिर प्रश्न किया--"पर तुमने किस प्रकार समझा कि मैं गरीब को भी अपना समझता हूँ ?"

किसान ने उत्तर दिया--"मैं आपकी बैठक में बैठकर आपकी प्रतीक्षा कर रहा था। आपने बैठक में प्रवेश करते ही मेरे कंधे पर हाथ रखा। बड़े स्नेह से मुझसे बात की। बस, मैं समझ गया कि आपके मन में भेद-भाव नहीं है। आप गरीब-अमीर, नीच-ऊँच सबको एक समान समझते हैं।"

बात समाप्त करते-करते किसान की आँखें भर आयीं। वह दत्त महोदय को सिर झुकाकर चला गया।

बंग-भंग का आन्दोलन चल रहा था। चारों ओर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की आँधी चल रही थी। दत्त महोदय के प्रयत्नों से सारा बारीसाल स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का गढ़ बना हुआ था। बड़ी-बड़ी वस्तुओं की तो बात ही क्या, कोई दुकानदार छोटी विदेशी वस्तु भी अपनी दुकान में रखने के लिए तैयार न होता था।

एक दिन बंगाल के तत्कालीन गवर्नर का चपरासी बाजार में चीनी खरीदने के लिए निकला। उन दिनों चीनी भी विदेशों से ही मँगाई जाती थी। चपरासी को किसी दुकान पर भी चीनी न मिली। वह खाली हाथ लौट गया।

गवर्नर ने ढाका के नवाब से कहा कि वे बाजार में विदेशी चीनी बिकवाने का प्रबन्ध करें। ढाका के नवाब ने दुकानदारों पर बड़ा दबाव डाला कि वे अपनी दुकानों में विदेशी चीनी रखें, पर कोई दुकानदार राजी न हुआ। क्योंकि उनके हृदयों में दत्त महोदय के लिए बड़ी श्रद्धा थी, और दत्त महोदय की उनके लिए यही सलाह थी कि वे अपनी दुकानों में विदेशी चीनी न रखें।

आखिर जब तक स्वदेशी आन्दोलन चला, गवर्नर साहब को भी गुड़ की ही चाय पीनी पड़ी।

स्वदेशी आन्दोलन के ही दिनों की बात है। बारीसाल के एक मोची ने शपथ

ग्रहण की कि वह विदेशी जूतों की मरम्मत न करेगा।

एक दिन एक सिपाही जिला मजिस्ट्रेट का एक जोड़ी जूता लेकर मोची के पास पहुँचा। उसने मोची के सामने जूतों को रखकर कहा--"इनकी आवश्यक मरम्मत कर दो।"

मोची ने बड़े ध्यान से उन जूतों को देखा। वे विदेशी थे। वह बोल उठा--"मैं इनकी मरम्मत न कर सकूँगा। आप किसी दूसरे के पास ले जाएँ!"

सिपाही उत्तेजित हो उठा। बोला, "क्यों नहीं मरम्मत करोगे?"

मोची ने दृढ़ता-भरे स्वर में उत्तर दिया--"ये विदेशी हैं।"

सिपाही क्रुद्ध हो उठा। पर फिर भी वह कुछ न बोला। वह जूतों को लेकर लौट गया। उसने थाने के दारोगा को सूचना दी।

पर दारोगा को सिपाही की बात पर विश्वास न हुआ। एक मोची और यह कहकर जूतों की मरम्मत न करे कि वे विदेशी हैं! आश्चर्य है, महान् आश्चर्य है! दारोगा सिपाही को साथ लेकर मोची के पास जा पहुँचा।

दारोगा ने मोची से पूछा--"तुमने इन जूतों की मरम्मत क्यों नहीं की?"

मोची ने उत्तर दिया—"ये जूते विदेशी हैं। मैंने विदेशी जूतों की मरम्मत न करने की प्रतिज्ञा की है।"

दारोगा क्रोधित हो उठा। उसने क्रोध के स्वर में कहा—"जानते हो, यह किसके जूते हैं? जिला मजिस्ट्रेट के। यदि इन जूतों की मरम्मत न करोगे, तो जेल की हवा खानी पड़ेगी।"

मोची दृढ़ता के साथ बोल उठा--"चाहे जो हो, पर मैं तो इन जूतों की मरम्मत न करूँगा।"

दारोगा आपे से बाहर हो गया। वह मोची के ऊपर बेंतों से प्रहार करने लगा। उसने क्रोधावेश में इतने बेंत मारे कि मोची अचेत होकर गिर पड़ा। दरोगा उसे छोड़कर, सिपाही के साथ चला गया।

दत्त महोदय को जब इस घटना का समाचार मिला, तो वे तुरन्त दौड़कर



मोची के पास गए। उन्होंने अपने हाथों से मोची को उठाया, उसकी सेवा की। मोची के होश में आने पर उन्होंने उससे कहा--"भाई मोची, तुमने आज जिस आत्म-दृढ़ता का परिचय दिया वैसी आत्म-दृढ़ता तो तुम्हारी स्थिति में स्वयं मैं भी नहीं दिखा सकता था।"

दत्त महोदय अपनी बात समाप्त करते-करते मोची के चरणों पर झुक गए।

वे उसके चरणों की धूलि लेने लगे।

मोची ने शीघ्र ही अपने पैरों को हटा लिया। वह स्वयं दत्त महोदय के सामने झुकता हुआ बोल उठा––"आप यह क्या कर रहे हैं, बाबू ! आप तो मेरे गुरु हैं।"

बारीसाल में शराबबंदी आन्दोलन की धूम थी। दत्त महोदय के प्रभाव से बावन दुकानों में इक्यावन बन्द हो चुकी थीं।

खबर इंग्लैण्ड पहुँची। तत्कालीन भारत सचिव लार्ड मार्ले ने पार्लियामेण्ट के सदस्य केर हार्डी को जाँच करने के लिए भारत भेजा।

केर हार्डी ने भारत से लौटकर रिपोर्ट दी––"इक्यावन दुकानें सचमुच बंद हो चुकी हैं और बावनवीं भी बन्द होने वाली है। यह सब जिसके कारण हुआ है, वे हैं अश्विनीकुमार दत्त।"

आखिर अँग्रेजी सरकार ने दत्त महोदय को गिरफ्तार करके बारीसाल जेल में बन्द कर दिया। पर दत्त महोदय सूर्य की किरणों की तरह जेल के भीतर से भी बारीसाल की जनता को प्रभावित किया करते थे। अँग्रेजी सरकार ने तंग आकर दत्त महोदय को बारीसल से लखनऊ की जेल में भेज दिया।

जाड़े के दिन थे। दत्त महोदय को जेल में विदेशी कपड़े की बनी हुई रजाई ओढ़ने के लिए दी गई। दत्त महोदय ने उस रजाई को ओढ़ने से अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा––"मैं शीत से ठिठुरकर मर जाऊँगा, पर खादी की रजाई छोड़कर, दूसरी रजाई नहीं ओढ़ूंगा।"

दत्त महोदय और गोरी सरकार में ठन गई। दत्त महोदय अपनी बात पर अड़े थे और सरकार अपनी बात पर। सरकार सोचती थी, दत्त महोदय जब जाड़े से काँपने लगेंगे, तो झख मारकर सरकार की बात मान लेंगे, पर दत्त महोदय न झुके, न डिगे। आखिर दत्त महोदय की जीत हुई। सरकार को विवश होकर उनके लिए खादी की रजाई बनवानी ही पड़ी।

धन्य थे दत्त महोदय, और धन्य था उनका स्वदेश-प्रेम !

जंगल का राजा

एक गाँव में एक ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण पुरोहिताई करता था। कथा सुनाता था, गाँव के लोगों को शुभ मुहूर्त बताया करता था। इसी से उसका निर्वाह होता था। ब्राह्मण के घर में वह, उसकी स्त्री और उसका एक छोटा-सा बालक था। छोटा-सा परिवार था, थोड़ी-सी आमदनी थी, किसी प्रकार जीवन की गाड़ी आगे खिसकती जा रही थी।

संयोग की बात, ब्राह्मण के गाँव के डबरे में अकाल पड़ा। पानी न बरसने से खेती और पेड़-पौधे सूख गए। जानवरों की तो बात ही क्या, आदमी भी भूख के शिकार होने लगे।

जब लोगों के पास खाने-पीने को ही नहीं रहा, तब ब्राह्मण से कथा कौन सुनता, कौन शुभ मुहूर्त पूछता!

ब्राह्मण की गृहस्थी की गाड़ी दलदल में फँस गई। वह और उसके परिवार के लोग भूखों मरने लगे।

जब भूख ने विवश कर दिया, तो ब्राह्मण ने अपनी स्त्री को उसके पीहर में भेज दिया और स्वयं वह परदेश चला गया।

ब्राह्मण दो-तीन वर्ष तक परदेश में रहा। वहाँ भी वह पुरोहिताई ही किया करता था। वह बीच-बीच में अपनी स्त्री को चिट्ठी तो भेजता ही था, खाने-पीने के लिए रुपया-पैसा भी भेजा करता था।

दो-तीन वर्ष के बाद ब्राह्मण ने घर जाने का विचार किया। उस समय तक उसने तीन-चार हजार रुपये भी जमा कर लिये थे।

उन दिनों न तो रेलें चलती थीं, न बसें और मोटरें ही चलती थीं। लोग दूर-सुदूर की यात्रा या तो पैदल करते थे, या बैलगाड़ी, घोड़ा या ऊँट पर किया करते थे। ब्राह्मण ने भी पैदल ही यात्रा आरम्भ की। उसकी टेंट में तीन-चार हजार रुपये बँधे हुए थे।

ब्राह्मण मंजिल पर मंजिल समाप्त करता हुआ अपने गाँव की ओर बढ़ता जा रहा था। मार्ग में एक वन पड़ता था। ब्राह्मण जब उस वन में पहुँचा, तो उसे तीन आदमी मिले। उन आदमियों ने बड़े प्रेम से ब्राह्मण से कहा—"भाई, तुम कहाँ जा रहे हो?"

ब्राह्मण ने अपने गाँव का नाम बता दिया।

उन आदमियों ने कहा, "हम भी उसी ओर चल रहे हैं। चलो, तीन से चार हुए। रास्ता बड़े मजे में कटेगा।"

ब्राह्मण बिना किसी सोच-विचार के उन आदमियों के साथ-साथ चलने लगा। पर वे आदमी तो डाकू थे। उन्होंने ब्राह्मण के रंग-ढंग से यह समझ लिया था कि यह परदेश से लौट रहा है, अवश्य इसके पास रुपये-पैसे होंगे। इसे जान से मारकर इसके रुपये-पैसे छीन लेने चाहिए।

डाकू बड़ी होशियारी से ब्राह्मण से बातचीत करते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे।

डाकू जब बीच वन में पहुँचे, तो उन्होंने ब्राह्मण को पकड़ लिया और कहा—"तुम्हारे पास जो कुछ हो, निकालकर रख दो।"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"भाई, मैं गरीब ब्राह्मण हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है।"

डाकुओं का सरदार अपने साथियों से बोला, "यह इस तरह मानने वाला नहीं। इसकी मुश्कें बाँध दो। इसके पास जो कुछ हो, छीन लो।"

देखते-ही-देखते डाकुओं ने ब्राह्मण के दोनों हाथ बाँधकर उसे जमीन पर गिरा दिया। डाकू उसे गिराकर उसकी तलाशी लेने लगे।

ब्राह्मण आर्त स्वर में पुकार उठा—"हे प्रभु, मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।"

ब्राह्मण के मुख से आर्त स्वर निकलकर चारों ओर गूँज गया।

आश्चर्य, सहसा एक शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। ऐसा लगा, मानो शेर दहाड़ता हुआ उसी ओर आ रहा हो।

डाकू आश्चर्य-चकित होकर इधर-उधर देखने लगे।

अभी कुछ ही क्षण बीत पाये थे कि एक बहुत बड़ा शेर झपटता हुआ, दहाड़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसने पहुँचते ही डाकुओं पर हमला बोल दिया।

शेर ने देखते-ही-देखते डाकुओं को चीर-फाड़ डाला। वह खून से रँगे हुए अपने पंजों और मुँह को लेकर, गुर्राता हुआ फिर जंगल की ओर भाग गया।

ब्राह्मण ने किसी तरह अपने हाथों के बन्धन खोले। वह उठकर खड़ा हुआ और बड़ी श्रद्धा से उस ओर देखने लगा, जिस ओर शेर भाग गया था।

इस आकस्मिक सहायता से ब्राह्मण हक्का-बक्का हो गया। वह मन-ही-मन सोचने लगा, यह शेर कौन था? क्या उसकी पुकार सुनकर स्वयं भगवान् ही



शेर के रूप में आए थे ?

ब्राह्मण ने मन-ही-मन भगवान् को प्रणाम किया, धन्यवाद दिया।

ब्राह्मण जब घर पहुँचा, तो अपने गाँव के लोगों को यह घटना सुनाई। सुनकर सबने एक स्वर से यही कहा, "अवश्य उस शेर के रूप में भगवान् ही थे।"

भगवान् के बिना न कोई आर्त पुकार सुनता है, न कोई इस तरह विपत्ति में सहायता करता है।

उस दिन से ब्राह्मण के मन में भगवान् के प्रति और भी अधिक श्रद्धा पैदा हो उठी। केवल यही नहीं, वह हर मनुष्य के भीतर भगवान् को देखने लगा, हर मनुष्य का आदर-सम्मान करने लगा।

इस घटना को जिस किसी ने सुना, उसके भी मन में भगवान् के प्रति प्रेम तो पैदा हुआ ही, भगवान् के रास्ते पर चलने की उसे प्रेरणा भी मिली।

भेड़िये का सिर

बहुत दिन हुए, किसी गाँव में एक बूढ़ा और बुढ़िया रहते थे। उनके यहाँ एक बकरा और एक मेढ़ा था। बकरे और मेढ़े में बड़ी दोस्ती थी। जहाँ कहीं भी बकरा जाता था, वहाँ मेढ़ा अवश्य जाता था। बकरा यदि खेत में जाता था, तो मेढ़ा भी जरूर खेत में जाता था और जब कभी बकरा फलों के बाग में जाता था, तो मेढ़ा भी उसके पीछे गये बिना नहीं रहता था।

एक दिन बुढ़िया ने बूढ़े से कहा—"बकरे और मेढ़े को भगा देना चाहिए, क्योंकि इन्हें रखने से कोई फायदा नहीं है। अब तो इन्हें रखने से घाटा ही है।"

इस निश्चय के मुताबिक बूढ़े ने मेढ़े और बकरे से कह दिया—"जाओ, और फिर कभी अपना मुँह न दिखाना, समझे ?"

बूढ़े की बात सुनकर उन दोनों ने एक झोला बना लिया और दूर चले गये। कुछ दूर चलकर उन्होंने एक भेड़िये का सिर पड़ा हुआ देखा। मेढ़ा काफी ताकतवर था, मगर उसमें साहस की कमी थी, जबकि बकरा उससे कम बलवान था, लेकिन साहसी और बहादुर था।

बकरे ने मेढ़े से कहा—"तुम भेड़िये का यह सिर उठा लो, क्योंकि तुम ज्यादा बलवान हो।"

मेढ़े ने कहा—"नहीं, तुम्हीं उठाओ, क्योंकि तुम मुझसे बहादुर हो।"

अन्त में उन दोनों ने मिलकर वह सिर उठाया और झोले में रखकर चलते बने।

चलते-चलते उन्होंने रास्ते में जलती हुई आग देखी, तो परस्पर कहा—

"यह जरूर कोई घर है, हमें वहीं जाकर रात बितानी चाहिए। हमें वहाँ भेड़ियों का डर नहीं रहेगा।"

यह सोचकर वे रोशनी की तरफ चले। वहाँ उन्होंने देखा कि तीन भेड़िये बैठे हुए खिचड़ी पका रहे हैं।

बकरे और मेढ़े ने वहाँ जाकर कहा––"राम-राम जी !"

भेड़ियों ने भी कहा––"राम-राम जी। आओ, बैठो, भले वक्त पर आये। अब हम लोग खिचड़ी तुम्हारे गोश्त के साथ खायेंगे।"

यह सुनकर बकरा बहुत घबराया और मेढ़ा तो करीब-करीब मर-सा गया। बकरे ने कहा––"भैया मेढ़े, भेड़ियों के सिर झोले से बाहर निकाल लो।"

मेढ़े ने भेड़िये का सिर झोले में से निकालना शुरू किया, तो बकरे ने कहा––"अरे, यह नहीं, बड़े वाला सिर निकालो।"

इस पर मेढ़े ने उसी सिर को फिर से निकाला और बकरे ने फिर से कहा––"यह भी नहीं, सबसे बड़ा वाला सिर निकालो।"

भेड़ियों ने जब यह देखा, तो सब घबरा गये और जान बचाने की सोचने लगे। वे सोचने लगे––न जाने इन्होंने कितने भेड़ियों के सिर काट रखे हैं।

भेड़ियों में से एक ने कहा––"अरे, बैठो भी, दोस्तो! हम तो मजाक कर रहे थे। आप तो बुरा मान गये। देखो, खिचड़ी तैयार हो रही है। मैं अभी पानी लेकर आता हूँ। फिर सब लोग साथ खायेंगे तो बड़ा मजा आयेगा।"

यह कहकर वह उठकर चला गया और काफी देर तक नहीं लौटा। तब दूसरे भेड़िये ने कहा––"अरे, वह तो जाकर ही बैठ गया। अच्छा, मैं जाकर देखता हूँ कि वह कुएँ में तो नहीं गिर पड़ा है।" यह कहकर वह भी चला गया और काफी देर तक लौटकर नहीं आया।

तब तीसरे भेड़िये ने कहा––"अरे, वे दोनों ही कुएँ में गिर गये लगते हैं। अच्छा, मैं जाकर देखता हूँ।" यह कहकर वह भी उठा और उसी दिशा में जाकर गायब हो गया।

खाओ और खिसको; वरना भेड़ियों को बुद्धि आ गई तो अपनी खैर नहीं।"

यह कहकर बकरा और मेढ़ा जल्दी से खिचड़ी खाने लगे।

उधर तीनों भेड़िये मिलकर सलाह कर रहे थे। उनमें से एक ने कहा—"अरे, हम लोग बकरे और मेढ़े से डर गए। हम तो उन्हें कच्चा चबा जायेंगे।" यह कहकर वे सब वापस चल पड़े।

उस समय तक बकरा और मेढ़ा खिचड़ी के बर्तन को पूरी तरह साफ कर चुके थे। और जब तक वे वहाँ पहुँचे, तब तक बकरा और मेढ़ा पेड़ पर चढ़कर छिप गए थे। उन्होंने आकर देखा, तो अचम्भा करने लगे कि वे दोनों कहाँ गायब हो गए।

थोड़ी देर बाद जब उन्होंने ऊपर को देखा, तो वे उन्हें पेड़ पर दिखाई दिए। बकरा, जो अपनी बहादुरी के लिए प्रसिद्ध था, पेड़ की चोटी पर बैठा था और मेढ़ा, जो उससे कम बहादुर था, उससे नीचे बैठा था।

एक भेड़िये ने सबसे बड़े वाले भेड़िये से पूछा—"आप हम सबसे बड़े हैं, इसलिए बताइये कि उन्हें किस प्रकार नीचे उतारा जाए ?"

बड़े वाला भेड़िया लेटकर सोचने लगा कि क्या करना चाहिए ?

मेढ़ा डर के कारण ऊपर बैठा हुआ काँप रहा था। वह इतना काँपा कि एकदम सीधा लेटे हुए भेड़िये के ऊपर गिर पड़ा। इससे पहले कि भेड़िया चिल्लाकर कुछ कहे, बकरा भी उसके ऊपर ही कूद पड़ा।

यह अचानक आयी हुई आफत देखकर सारे भेड़िये सिर पर पैर रखकर भाग गए और फिर कभी दिखाई नहीं दिए।

बकरे और मेढ़े ने वहीं एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली और मजे से रहने लगे।

करा दूँ।"

बसंत ने उत्तर दिया—"आपका उपकार मानता हूँ मामाजी, पर मेरी और प्रेममोहन की लड़ाई कहाँ है ? कल उसकी पड़ोसी से लड़ाई हो गई थी। उसने क्रोध में आकर पड़ोसी को बहुत बुरा-भला कह डाला था। पड़ोसी मेरे पास उलाहने लेकर आया था। आज जब मैंने उससे कुछ पूछा, तो वह कुछ बताने के बजाय, अगिया बैताल बन गया और अनाप-शनाप बकता हुआ घर से निकल गया। आप तो उसे जानते ही हैं।"

मामा ने कहा—"हाँ, जानता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ। जवानी का जोश है। समझा दिया है। अब आयेगा, तो कुछ कहना नहीं।"

मामा अपनी बात खतम करता हुआ उठ पड़ा। बसंत ने उत्तर दिया—"भला मैं क्यों कहूँगा, मामाजी ? जैसा लड़का, वैसा ही भतीजा—दोनों एक समान होते हैं।"

"मैं जानता हूँ तुम्हारे विचार को, बसंत"—मामा कहता हुआ चला गया। बसंत उसकी ओर देखने लगा, रह-रहकर देखने लगा।

□